उत्तर भारत में नदी प्रदूषण और शहरीकरण का हालिया इतिहास-लेखन

विकास कुमार

दुनिया भर में ऐतिहासिक दृष्टि से नदियों की अपनी एक विशिष्ट महत्ता रही। परंपरा, संस्कृति और सभ्यता का उद्गम केंद्र नदियों को ही माना जाता था और यह कुछ हद तक आज भी क़ायम है। मसलन, आज भी भारत में गंगा वनस्पति, जानवर और पशु-पक्षी जीवन की समृद्ध विविधता को बनाये रखने का घर है और साथ ही एक विशाल मानव आबादी को पीने, सिंचाई, उद्योगों और अन्य उद्देश्यों के लिए पानी उपलब्ध कराने का समृद्ध स्रोत है। लेकिन बढ़ती आबादी, शहरीकरण, औद्योगीकरण और जल जैसे संसाधनों के असंतुलित उपयोग ने नदी को शहर के नाले में तब्दील कर दिया है। यह लेख मुख्यतः जेनी विल्हेम की पुस्तक *एनवायरनमेंट ऐंड पॉल्यूशन इन कोलोनियल इंडिया : सीवरेज टेक्नॉलजी अलॉन्ग द सेक्रेड गैंजेज़* के हवाले से शहरीकरण और नदी प्रदूषण के जटिल अंतर्संबंधों के इतिहास लेखन की समीक्षा की कोशिश है। पुस्तक के पहले वाक्य में ही वह कहती हैं कि 'वर्तमान समय में भारत की नदियाँ गंभीर प्रदूषण के

संकट का सामना कर रही हैं जो नगरपालिका के सीवेज, औद्योगिक अपशिष्ट, ठोस अपशिष्ट और अन्य हानिकारक पदार्थों से लदी हुई हैं' जिसके लिए वह भारत सरकार के केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड की एक हालिया रिपोर्ट का हवाला देती हैं। इसमें इस बात का ज़िक्र है कि भारत में प्रदूषित नदियों की संख्या 2009 में 121 से बढ़कर 2015 में 275 हो गई है और साथ ही इस अवधि में जिन नदियों के प्रदूषित भू-क्षेत्र की सीमा में बढ़ोतरी हुई है, उसकी भी संख्या 150 से बढ़कर 302 हो गई है, जो एक तरह से दोगुनी वृद्धि को दर्शाता है।[1]

गंगा नदी प्रदूषण के संकट का एक दृश्य उदाहरण है जो बनारस, कानपुर और अन्य तटवर्ती शहरों से निकलने वाले 2600 मिलियन लीटर से अधिक सीवेज को अपने में समाहित करती हैं। इसका एक मौजूदा कारण राज्यों में सीवेज उपचार संयंत्र की मौजूदा क्षमता में भारी कमी का होना। मौजूदा समय में सीवेज उपचार यंत्र कुल अपशिष्ट का केवल कुछ ही प्रतिशत संशोधित कर पाते हैं और बाक़ी अपर्याप्त रूप से संचालित हैं। इसके अतिरिक्त, चर्मशोधक कारख़ाने, तेल शोधनसंयत, पेपर मिल, फ़ार्मास्यूटिकल्स और अन्य उद्योग 290 मिलियन लीटर से अधिक ज़हरीले औद्योगिक कचरे का निर्वहन करते हैं जो कि गंगा के तटों पर फेंका जाता है, जिसका सटीक उदाहरण कानपुर का जाजमऊ है, जहाँ चमड़ा उद्योग से निकलने वाली अनावश्यक वस्तुओं को फेंका जाता है।[2] साथ ही कृषि संबंधी (कीटनाशक और उर्वरक अवशेष युक्त) तरल और ठोस अपशिष्ट और धार्मिक पूजा से उत्पन्न अपशिष्ट पदार्थ प्रदूषण के स्रोतों में शामिल हैं जिसने कहीं न कहीं नदी की ख़ुद को पुन: उपचारित करने की क्षमता को नुक़सान पहुँचाया है।

जेनी विल्हेम पुस्तक को दो भागों में विभाजित करके देखती हैं जिससे पाठक को पुस्तक की रुपरेखा समझने में बहुत अधिक कठिनाई नहीं होती। पुस्तक का पहला भाग (अध्याय एक से तीन) मुख्यतः 1890 और 1900 के बीच में उत्तर-पश्चिमी प्रांत तथा बनारस और कानपुर में जलजनित सीवरेज सिस्टम के निर्माण की योजनाओं पर ध्यान केंद्रित करता है। अध्याय एक भारत सरकार पर केंद्रित है, जहाँ बहस मुख्य रूप से ब्रिटिश नदी प्रदूषण अधिनियम के समान एक राष्ट्रीय नदी प्रदूषण क़ानून की शुरुआत के इर्द-गिर्द घूमती है और अंततः 1893 में जाँच की एक विशेष समिति द्वारा सामान्य दिशा-निर्देश जारी करने की ओर ले जाती है। वहीं अध्याय दो उत्तर-पश्चिमी प्रांतों की सरकार की निर्णय-प्रक्रियाओं के इर्द-गिर्द अपने आप को समेटता है। साथ ही 1890 में भारत सरकार द्वारा एक राष्ट्रीय क़ानून पारित करने से इन्कार प्रांतीय स्तर पर ज़ोरदार बहस का मुद्दा बन जाता है, जिससे नदियों को मुख्य रूप से सभी रोगों के जन्म का कारण समझा जाने लगा। हालाँकि उस समय तक भारत भी अपने 'रोगाणु सिद्धांत'

---

[1] जेनी विल्हेम (2016) : 1.

[2] विकास कुमार (2019), 'वॉटर पॉल्यूशन इन उत्तर-प्रदेश: अ केस स्टडी ऑफ़ टैनरीज़ इन कानपुर', सेंट्रल फ़ॉर ज़वाहरलाल नेहरू स्टडीज़, जामिया मिलिया इस्लामिया, (अप्रकाशित एम.फिल प्रबंध).

को स्थापित करने की प्रक्रिया में प्रयासरत था जिसे जल्द ही वैज्ञानिक मापदंडों के आधार पर मान्यता मिलने वाली थी। अध्याय तीन दो प्रमुख सवालों के आस-पास उलझा दिखाई देता है। पहला सवाल धन का है, जैसा कि बनारस और कानपुर नगर बोर्ड ने अपने सीवरेज बुनियादी ढाँचे के वित्तपोषण के लिए संघर्ष किया। और दूसरा सवाल धार्मिक है, जिसमें इस बात को आगे रखा गया कि क्या गंगा में खुले तौर पर सीवेज का निर्वहन करना उचित है और यह कार्य किस हद तक गंगा को प्रभावित करता है? इन दोनों सवालों में न केवल नगरपालिका, बल्कि प्रशासन और भारतीय समाज, विशेष रूप से हिंदू जनता अपने आपको शामिल करती दिखाई देती है। इसके इतर पुस्तक का दूसरा भाग (अध्याय चार और पाँच) बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में सीवेज के विकास को खँगालता है, ख़ास तौर पर युक्त प्रांत और बंगाल के संदर्भ में, जहाँ दोनों प्रांत विभिन्न जैविक तरीक़ों के साथ नाले के पानी की सफ़ाई के लिए प्रयोग शुरू करते हैं। अध्याय चार इस बात पर प्रकाश डालता है कि संयुक्त प्रांत में जैविक सीवेज उपचार कैसे हुआ और इसका स्थापित नदी प्रदूषण और सीवेज निपटान नीतियों पर क्या प्रभाव पड़ा? अध्याय पाँच मुख्यतौर से कलकत्ता पर केंद्रित है जो हुगली में सेप्टिक टैंक अपशिष्ट निपटान के लिए बंगाल सरकार के दृष्टिकोण और उसके रवैये को समझाने का प्रयास करता है।

प्रदूषण : बीच बहस में

ब्रिटिश मानवविज्ञानी मेरी डगलस गंदगी, प्रदूषण और अशुद्धता की धारणा को एक सांस्कृतिक निर्मिति की तरह देखती हैं, जिसे कुछ चीज़ों से इतर अलग तरह से लेबल किया जाता है और जिसे 'घर से बाहर रखने की वस्तु'(matter out of place) में माना जाता है। यानि सांस्कृतिक रूप से निर्मित आदेश के बाहर की चीज़।[3] 'प्रदूषण' की सांस्कृतिक समझ का महत्तव अलग महत्त्व है, जिसका पर्यावरण प्रदूषण और सरकारी सफ़ाई कार्यक्रमों के परिणामों पर लोगों के दृष्टिकोण से कोई लेना-देना नहीं है। अंग्रेज़ी शब्द 'प्रदूषण' पानी की गुणवत्ता को वैज्ञानिक मानकों के आधार पर जाँचने-परखने के साथ-साथ एक पूर्ण धर्मनिरपेक्ष अर्थ भी अपने साथ समेटे रहता है, जिसका किसी भी धार्मिक संज्ञा से कोई वास्ता नहीं है। जेनी विल्हेम का मानना है कि प्रदूषण विभिन्न अर्थों में अपनी पहचान विकसित करने के बाद भी हिंदुओं द्वारा दिए गए संज्ञानात्मक और अर्थसंबंधी पहचान को दर्शाने में विफल रहा है। जिससे प्रदूषण को धार्मिक कर्मकांडों से जोड़ के देखा जाने लगा। हिंदू समाज 'प्रदूषण' के दो मुख्य रूपों के बीच अंतर रखता है : भौतिक अशुद्धता और गंदगी। जिसके लिए वे गंदगी और अस्वच्छता या अनुष्ठान, अशुद्धता का उपयोग करते हैं, जिसे अपवित्रता और अशुद्धता जैसे शब्दों द्वारा दर्शाया जाता है। कई अनुष्ठान संदर्भों में, भौतिक

[3] एम. डगलस (2002) : 44.

शुद्धता/अस्वच्छता और पवित्र शुद्धता/अशुद्धता निकटता से जुड़े हुए मालूम पड़ते हैं, और फिर भी जो कुछ भौतिक रूप से स्वच्छ माना जाता है, उसे अनिवार्य रूप से शुद्ध नहीं माना जाता है। सीवेज इस संदर्भ में एक विशेष रूप से समस्याग्रस्त मामला है क्योंकि इसमें मानव मल होता है, जिसे हिंदू आम तौर पर अनुष्ठान की दृष्टि से सबसे अशुद्ध पदार्थों में से एक मानते हैं, लेकिन फिर भी आज गंगा जैसी तमाम सारी नदियाँ इस तरह की अशुद्धता से परिपूर्ण हैं और तमाम सरकारी परियोजनाओं के होते हुए भी अधिक बदलाव दिखाई नहीं देता।

केली डी. एली और लीना ज़ुहलके ने अपने शोध कार्यों में स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में प्रदूषण को लेकर उभरी बहसों का विश्लेषण किया है। दोनों अपने तर्कों के माध्यम से इस ओर इशारा करती हैं कि 'प्रदूषण' की धार्मिक धारणाएँ पर्यावरण संरक्षण के उद्देश्य से किए गए प्रयासों को सुदृढ़ तरीक़े से प्रभावित करती हैं। इस मुद्दे के प्रति हिंदू समाज का दृष्टिकोण किसी भी तरह से एक समान नहीं था और वर्तमान में भी इसमें कुछ ख़ासा बदलाव देखने को नहीं मिलता। औपनिवेशिक सरकार की प्रमुख विचारधाराओं और नीतियों को भारतीय राजनेताओं, पत्रकारों और तटवर्ती क्षेत्र के निवासियों द्वारा बार-बार प्रभावित करने की कोशिश होती रही, ख़ासकर गंगा को लेकर। जैसे कि कुछ स्थानों पर सीवेज के निर्वहन को न केवल एक संभावित स्वास्थ्य ख़तरे के रूप में माना जाता था बल्कि सीवेज में निहित बड़ी मात्रा में मल के कारण उसे ज़बरदस्त धार्मिक अपवित्रता के रूप में भी समझा जाता था। इन तर्कों को भारतीय औपनिवेशिक शहरों के संदर्भ में गहराई से देखा नहीं गया या शायद ही कभी उस पर सोचा गया। इस विषय पर अधिक विस्तार से विचार करने वाले पहले विद्वान अवधेंद्र शरण हैं, जिन्होंने दिल्ली के शहरी पर्यावरण के इतिहास में उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के इर्द-गिर्द व्याप्त प्रारंभिक औपनिवेशिक नदी प्रदूषण की बहस के कुछ मुद्दों को अपने काम में शामिल किया है। शरण इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपशिष्ट जल निपटान के संबंध में व्यवस्था उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में उस समय विकसित हुई, जिस समय शासन की बागडोर औपनिवेशिक सरकार के हाथ में थी। जल निकायों की वैश्विक अवधारणा, और नदियों का सिंक का रूप लेना और अपशिष्ट पदार्थों को अपने में आत्मसात करने की क्षमता ने एक नई धारणा को जन्म दिया। अब स्थानीय प्रशासन शहर के कचरे को अवशोषित करने, पतला करने और फैलाने के लिए नदियों के प्राकृतिक जल का इस्तेमाल करने लगा और नदियों से प्राप्त पानी को नियंत्रित कर उसके उपयोग को बढ़ावा देने लगा। इससे शहर में अपशिष्ट उपचार और निपटान संरचनाओं का जन्म हुआ। साथ ही, शरण यह बताते हैं कि इस अवधारणा को 'कोलोनियल डिफ़रेंस की वैचारिकी' के रूप में समझने की ज़रूरत है। क्योंकि भारत और इंग्लैंड में प्रदूषण और उसके उपचार की संरचनाओं तथा उससे होने वाले संभावित नुक़सान का मूल्यांकन अलग-अलग तरीक़े से किया जाता था। यह

अंतर इस बात पर भी रोशनी डालता है कि कैसे स्थानीय हित समूहों, जैसे कि हिंदू नागरिक और उद्योगपति लॉबी ने आधिकारिक नीतियों को सक्रिय रूप से प्रभावित किया।[4] भारत के औपनिवेशिक नदी प्रदूषण के इतिहास पर कुछ चुनिंदा कामों में एक अध्ययन, कलकत्ता पर प्रतीक चक्रवर्ती का है। लेख 'प्योरीफ़ाईंग द रिवर' यह 1860 के दशक के बाद नगरपालिका जल आपूर्ति की शुरुआत के बाद पानी की शुद्धता और प्रदूषण के आसपास शहरी धारणाओं की जाँच करता है और साथ ही कलकत्ता के सेप्टिक टैंक विवाद को अकादमिक बहस में लाने का काम करता है।[5] अभी हाल ही में रॉबर्ट एवेरमे ने अपनी पुस्तक में 'हुगली नदी के वैश्विक इतिहास' को दर्ज किया है लेकिन यहाँ यह समझने की ज़रूरत है कि लेखक ने हुगली की जिन विशेषताओं का लेखा-जोखा अपनी पुस्तक में दिया है, क्या वह आज भी है क्योंकि भारत की ज़्यादातर नदियाँ एक सिंक के रूप में परिवर्तित हो चुकी हैं जिससे वह अपनी ऐतिहासिक महत्ता को लगभग खो चुकी हैं।[6]

अमेरिका और युरोप में, जहाँ शहरी पर्यावरण इतिहास आज अनुसंधान का एक सुस्थापित क्षेत्र है, वहीं दक्षिण एशिया में पर्यावरण के मुद्दों पर लिखने वाले इतिहासकार अभी तक प्रबल ग्रामीण पूर्वाग्रह के बीच फँसे हुए हैं और आज भी मुख्य रूप से वानिकी, सिंचाई, भूमि उपयोग और वन्य जीवन पर ध्यान केंद्रित कर रहे हैं। बक़ौल जेनी विल्हेम, प्रमुख अमेरिकी पर्यावरण इतिहासकार जोएल ए. टार[7] ने शहरी पर्यावरण इतिहास के पाँच प्राथमिक विषयों को सूचीबद्ध किया है : (i) प्राकृतिक इतिहास पर निर्मित पर्यावरण और मानव गतिविधियों के प्रभाव (ii) इन प्रभावों के प्रति समाज की प्रतिक्रिया और पर्यावरणीय समस्याओं को कम करने के प्रयास (iii) शहर पर प्राकृतिक पर्यावरण के प्रभाव (iv) शहर के भीतरी इलाक़ों के संबंध और (v) पर्यावरणीय मुद्दों के संबंध में लिंग, वर्ग और नस्ल की जाँच। टार द्वारा इंगित किये गए बिन्दुओं पर शायद ही भारत के संदर्भ में काम
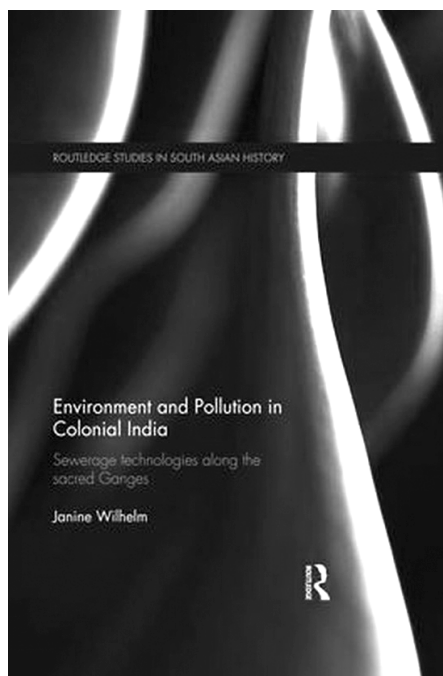
---

4 अवधेंद्र शरण (2011) : 447.

5 विस्तृत जानकारी के लिए, देखें प्रतीक चक्रबर्ती (2015).

6 अधिक जानकारी के लिए देखें, रॉबर्ट एवेरमे (2020).

7 जोएल ए. टार (2001) : 38.

किया गया है और अगर हुआ भी है तो मामूली तौर पर। लेकिन वर्तमान समय में जोएल टार के इन्हीं बिंदुओं को केंद्र में रखकर अलग-अलग विषयों पर काम किया जा रहा है, जिसमें रॉबर्ट वेराडी जैसे विद्वान् शामिल हैं जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान बनारस क्षेत्र में भूमि उपयोग और पर्यावरण परिवर्तन पर अपने लेख में बनारस शहर में पर्यावरण प्रदूषण (विशेष रूप से धार्मिक क्रिया-कलापों से होने वाले नदी प्रदूषण) पर एक छोटा पैराग्राफ़ शामिल किया है। इसी के आसपास के वर्षों में माइकल मान ने दिल्ली में पानी की आपूर्ति और उत्सर्जन हटाने की प्रक्रिया के अपने अध्ययन के साथ एक बड़े पर्यावरणीय संदर्भ में शहरी स्वच्छता पर औपनिवेशिक नीतियों को स्थापित करने के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। उन्होंने इस ओर इशारा किया है कि '(ब्रिटिश) भारत में शहरीकरण के इतिहास पर कम काम किया गया या उसे स्वच्छता के इतिहास तक ही सीमित कर दिया गया।[8]

ब्रिटिश हुकूमत और नदी प्रदूषण

प्रदूषण और नदी प्रदूषण की समस्या मुख्य रूप से एक औपनिवेशिक विरासत की देन थी जो उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी की शुरुआत में अपशिष्ट जल निपटान के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्मित नीतियों के फलस्वरूप उभरी। इसके बचाव में यह कहा जाता है कि इससे पहले भारत समग्र रूप से ग्रामीण था और उस समय औद्योगिक गतिविधियाँ न के बराबर थीं।[9] लेकिन पश्चिमी इतिहासकार इस बात से पूरी तरह इत्तेफ़ाक नहीं रखते थे। उनका मानना था कि नदी को प्रदूषित करने वाले स्रोत बहुतायत संख्या में मौजूद थे जिसके पीछे बीसवीं सदी के आगमन तक गंगा के आस-पास मानव बस्तियाँ बसना प्रारंभ होना था। इनमें से कुछ की गिनती शहरी मापदंडों के हिसाब से 'शहरी केंद्र' के रूप में होने लगी थी और बढ़ती शहरी आबादी और बढ़ते उद्योगों ने नदियों की पारिस्थितिकी पर दबाव बढ़ाना शुरू कर दिया। हालाँकि इन बहसों ने भारत में पर्यावरण इतिहास के क्षेत्र को अधिक विस्तार दिया और नए-नए विषयों की खोज की।

भारत में नदी प्रदूषण की तह में जाना शुरू करेंगे तो पाएँगे कि कहीं-न-कहीं इसकी शुरुआत औपनिवेशिक शासन की नीतियों से होती है। विशेषत: उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दौरान औपनिवेशिक सरकार के द्वारा नगरपालिका सीवरेज प्रणाली ने ऐसी तकनीकों का इस्तेमाल करना प्रारंभ किया जिससे गंगा और अन्य भारतीय नदियों में नगरपालिका सीवेज का सारा अपशिष्ट पदार्थ सीधे गिरने लगा, जिससे नदियों में प्रदूषण की मात्रा बढ़ने लगी और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में गंगा के किनारे बसे शहरों की नगरपालिकाओं ने अपर्याप्त, ख़राब रख-रखाव और गिने-चुने सीवरेज सिस्टम के ज़रिये इस समस्या को विस्तार दिया। भारतीय उपमहाद्वीप में सीवेज और नदी प्रदूषण की समस्या को विस्तृत तरीक़े से समझाने के

[8] अधिक जानकारी के लिए देखें, माइकल मान (2007).

[9] विस्तार से देखने के लिए देखें, माइकल मान (2015क).

लिए उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन में सीवेज निपटान और नदी प्रदूषण की समस्या को लेकर चल रही बहसों का ज़िक्र ज़रूरी है जो कई दशकों से अधिकारियों, वैज्ञानिकों और सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पन हुए विवादों से पनपी हैं। ज़ाहिर है यह विवाद और इसके तार औपनिवेशिक हिंदुस्तान के महक़मों तक सीमित न होकर लंदन या युरोप तक पसरे मालूम होते हैं, यानि इसके अंतर्राष्ट्रीय पक्ष भी हैं। इन बहसों से यह भी साफ़ होता है कि भारत में नदी प्रदूषण की समस्या अपने आप में सिर्फ़ औपनिवेशिक परिघटना न होकर आम औद्योगिक और शहराती परिघटना भी है, ब्रिटेन में जो टेम्स या राइन नदी के साथ हुआ, वह भारत में गंगा और यमुना के साथ भी हुआ है। यह अलग बात है कि सियासी दृष्टि से उससे निपटने के सरकारों के तरीक़े और जज़्बे लंदन और हिंदुस्तान में अलग रहे हैं। युरोप में जहाँ नदी प्रदूषण एक अतीत है, वहीं हिंदुस्तान में वर्तमान वास्तविकता का हिस्सा!

नदियों में नगरपालिका सीवेज के सारे अपशिष्ट पदार्थों की सीधी निकासी ब्रिटिश सैनिटरी आंदोलन के एजेंडे का हिस्सा थी जिससे शहरी जीवन की परिस्थितियों में सुधार करके बीमारी और मृत्यु-दर को कम किया जा सके। इसका प्रयोग बाद में भारत में भी किया गया। लेकिन यह व्यवस्था कारगर साबित नहीं हुई, कारण ग्रेट ब्रिटेन का औद्योगिक विस्तार और शहरीकरण था। इस पूरे नाटकीय दख़ल का परिणाम यह हुआ कि बड़े पैमाने पर शहरों में भीड़भाड़ और पर्याप्त आवास की माँग, मानव, पशु और औद्योगिक अपशिष्ट का खुले तौर पर नदियों में निपटान, शहरों में वायु और जल प्रदूषण की गंभीर समस्या और पेयजल आपूर्ति का संकट खड़ा हो गया। साथ ही इन सभी समस्याओं ने शहरवासियों को अलग-अलग रोगों की गिरफ़्त में लेना शुरू परंपरागत रूप से रोगों के उद्भव के लिए समाज स्थानीय पर्यावरणीय कारकों जैसे मौसम या हवा की स्थिति को ज़िम्मेदार मानता था लेकिन रोगों का उद्भव स्थानीय अस्वच्छ स्थितियों से जटिल रूप से जुड़ा हुआ है और इसका उपचार गंदगी और दुर्गंध को दूर करके ही किया जा सकता है। इस पूरे विचार को 1849 में ब्रिटिश डॉक्टर जॉन स्नो के प्रकाशित पत्र के दावों से समझ सकते हैं जिसमें कहा गया है कि हैज़ा एक विशिष्ट एजेंट द्वारा प्रेषित किया गया रोग है जो मलमूत्र से दूषित पानी के माध्यम से फैलता है। इसी अवधि के दौरान एक अन्य ब्रिटिश डॉक्टर विलियम बड ने भी बार-बार टायफ़ॉयड और हैज़ा के प्रसार में प्रदूषित पानी की भूमिका की ओर इशारा किया। इन सभी घटनाओं ने 19वीं सदी के मध्य के दशकों में ब्रिटिश सरकार द्वारा शहरी गरीबों की उच्च बीमारी और मृत्यु दर को देखते हुए अस्वास्थ्यकर रिहाइश और कंगाली के बीच संबंध को लेकर सर्वेक्षण करने का आदेश दिया। जिसमें एडविन चाडविक की रिपोर्ट (1842) महत्त्वपूर्ण है जो ग्रेट ब्रिटेन की आबादी की स्वच्छता की स्थिति को लेकर चर्चा में रही। इसने आगे चलकर एक ज़ोरदार सार्वजनिक स्वास्थ्य आंदोलन की शुरुआत करने में अहम भूमिका निभाई, जिसका नेतृत्व बाद में ब्रिटेन के राजनेताओं, नौकरशाहों और

डॉक्टरों ने किया। इस रिपोर्ट की परिणति ब्रिटेन के पहले सार्वजनिक स्वास्थ्य अधिनियम (1848) और बाद में एक स्वास्थ्य बोर्ड की स्थापना के रूप में हुई। इसी कड़ी में ग्रेट ब्रिटेन ने नगरपालिका सीवरेज प्रणाली से निकलने वाले अपशिष्ट पदार्थों की रोकथाम के लिये आधुनिक सीवरेज सिस्टम शुरू किया, जिसका मक़सद नदियों और जल स्रोतों को प्रदूषण मुक्त करना था।

लेकिन कुछ विद्वानों का मानना था कि ब्रिटेन में नदियों के प्रदूषित होने का एक प्रमुख कारण उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान पारंपरिक प्रणाली में बदलाव था। परंपरागत रूप से, मानव मल और अन्य कचरे को प्रिवी वॉल्ट या सेसपूल में एकत्र किया जाता था जिसकी सामग्री को निकालकर ग्रामीण इलाक़ों में किसानों को खाद के रूप में बेचा जाता था। बाद में बढ़ती आबादी के दबाव से सेसपूल को राहत देने के प्रयास शुरू हुए। 1815 में लंदन ने घरेलू कचरे को आम सीवरों में डालने के लिए लंबे समय से मौजूद प्रतिबंध को हटा दिया जो तब तक ज़मीनी जल निकासी के लिए सख़्ती से आरक्षित था। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया ने एक नई समस्या को जन्म दिया, नदी प्रदूषण जिसने टेम्स नदी को एक 'ग्रेट सिंक' में तब्दील कर दिया।[10]

इन सभी क़दमों ने ब्रिटेन में नए तरह के विवादों को जन्म दिया जो मुख्यतः लंदन की नगरपालिका द्वारा जल आपूर्ति से संबंधित थे। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान राजधानी को पीने का पानी निजी जल कंपनियों द्वारा प्रदान किया जाता था, जिसे टेम्स और ली नदी से निकाला जाता था और इसे रेत के बिस्तरों के माध्यम से छानकर वितरित किया जाता था। लेकिन जल्द ही इसके पानी की गुणवत्ता को लेकर शिकायतों का बाज़ार गर्म हो गया 1815 की नीति को परिवर्तित करने के लिए आवाज़ें उठने लगीं और 1828 में नगरपालिका जल आपूर्ति के स्रोतों के रूप में दो नदियों की उपयुक्तता की पहली जाँच व्यवस्था की गई। वहीं दूसरी ओर कंपनियों ने इस बात से इन्कार किया कि टेम्स और ली का पानी सेवन के लिए उपयुक्त नहीं है और सीवेज तथा अन्य कचरे से प्रदूषित है। साथ ही उन्होंने यह तर्क दिया कि प्राकृतिक और कृत्रिम शुद्धिकरण प्रक्रियाओं ने उपभोक्ताओं को बीमारियों से मज़बूती से बचाया है।

लेकिन इस पूरी घटना ने कई प्रश्नों और बहसों को उजागर किया। पहला, क्या नदियाँ सीवेज से प्राकृतिक रूप से ख़ुद को शुद्ध करने में सक्षम हैं? दूसरा, सीवेज में मौजूद रोग एजेंटों की सटीक प्रकृति क्या है और वे नदी के स्वतः शुद्धीकरण की एक उपचारात्मक प्रक्रिया से कैसे प्रभावित होते हैं? तीसरा, क्या जल विश्लेषण के उपलब्ध तरीक़ों से इन रोग एजेंटों का ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है? और आख़िर में, क्या जल कंपनियों द्वारा नियोजित फ़िल्टर, रोग एजेंटों को प्रभावी ढंग से बेअसर करने में सक्षम हैं ?

[10] इस समस्या पर क़ाबू पाने के लिए 1865 में टेम्स के उत्तर और दक्षिण में दो समानांतर मुख्य सीवर नालियों का निर्माण किया गया ताकि टेम्स में सीधे बहने वाले उन सीवरों को रोका जा सके, जो पहले सीधे नदी में बहाये जाते थे. जल आपूर्ति और सीवरेज सिस्टम के राष्ट्रव्यापी निर्माण को बढ़ावा देकर, सीवरों के लिए घर-घर कनेक्शन अनिवार्य बनाकर तथा स्वच्छता क़ानून को सार्वजनिक स्वास्थ्य अधिनियम 1848 के साथ जोड़कर नदी प्रदूषण को रोकने की कोशिश की गयी.

नदियों की स्वत: शुद्धि क्षमता को लेकर बहस

नदी की स्व-शुद्धि (सेल्फ़-प्यूरिफ़िकेशन) की अवधारणा औपनिवेशिक काल से लेकर आज तक सबसे अधिक विवादित मुद्दों में से एक रही है और आज भी जब नदी प्रदूषण को लेकर बहस होती है तो यह प्रश्न ज़रूर उठता है कि क्या नदी स्वयं को शुद्ध कर सकती है? हालाँकि इस प्रश्न के जवाब को लेकर एक आम राय नहीं बन पाई है और न ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा गया है। फिर भी इस बहस को दो पक्षों में बाँट कर समझ सकते हैं : पहला, जो आँखों देखे ज्ञान पर आधारित है और दूसरा, वैज्ञानिक आकलन पर। नदी के स्व-शुद्धि के पक्षधरों ने मुख्य रूप से आँखों देखे ज्ञान पर आधारित विश्वास को आगे बढ़ाया। उनका मानना है कि धाराएँ वास्तव में कुछ हद तक जैविक प्रदूषण से स्वाभाविक रूप से ख़ुद को शुद्ध करने में सक्षम होती हैं और यह प्रकिया पानी के विपरीत, नदी के बहते पानी में अधिक सक्रिय रूप से होता है, इस तरह पानी में उपस्थित प्रदूषण जल्दी से ग़ायब हो जाता है।

लेकिन वैज्ञानिक पद्धति का आकलन करने का तरीक़ा इससे अलग है। इस पद्धति के अनुसार ऐसा माना जाता है कि कार्बनिक पदार्थों की उच्च सांद्रता की उपस्थिति बैक्टीरिया, कवक और अन्य डीकंपोज़रों के विकास को प्रोत्साहित करती है जिससे नदी अपने आप को स्वत: शुद्ध करती है। लेकिन अगर एक बार धारा में छोड़े जाने वाले जैविक कचरे की मात्रा अधिक हो जाती है तो यह प्रक्रिया बाधित हो जाती है। यह बहस 19वीं शताब्दी के आख़िरी तीन दशकों में काफ़ी तेज़ हो गई, जब वैज्ञानिकों के दो गुटों ने इसके पक्ष और विपक्ष में अपनी राय रखी। रसायनज्ञ एडवर्ड फ़्रैंकलैंड ने पूर्व में 'सीवेज संदूषण' की विकसित अवधारणा को ख़ारिज किया, जिसको आधार मानकर लंदन शहर में जल कंपनियों के द्वारा पानी की आपूर्ति की जाती थी। उनका मानना था कि 'सीवेज से दूषित पानी को पीने के पानी की आपूर्ति के स्रोत के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि भले ही सीवेज पदार्थ स्वयं भंग हो जाता है लेकिन उसमें रोग के एजेंट बने रहते हैं उससे अलग नहीं होते हैं'।[11] इस विचार के फ़्रैंकलैंड के मुख्य प्रतिद्वंद्वी हेनरी लेथेबी थे जो 1855 से 1873 तक लंदन शहर के स्वास्थ्य अधिकारी और जल कंपनियों के मुख्य पक्षधर भी थे। उन्होंने फ़्रैंकलैंड से अलग, समग्र रूप से नदी की स्व-शुद्धि की धारणा को प्रभावी माना, कीटाणुओं के अस्तित्व को नकारा और रासायनिक जल विश्लेषण और जल निस्पादन की विश्वसनीयता को बरकरार रखा। इसके बाद 1880 के दशक में, टाईडी ने 'अनुभवजन्य तरीक़ों' के आधार पर नदी के स्व-शुद्धिकरण की धारणा को स्वीकार किया और फ़्रैंकलैंड के शोध को चुनौती दी।[12] लेकिन इन चुनौतियों से दोनों पक्षों के बीच के विवाद का हल नहीं निकला। पहले

[11] जेनी विल्हेम (2016) : 19.

[12] वही.

'नदी प्रदूषण आयोग' ने नदी के स्वत: शुद्धि की धारणा का खंडन ज़रूर किया परंतु जल्द ही आंतरिक मतभेदों की वजह से पहला आयोग 1868 में भंग हो गया। दूसरे 'प्रदूषण आयोग', जिसके सदस्य अब फ्रैंकलैंड भी थे, की स्थापना के साथ ही फ्रैंकलैंड के विचारों को तवज्जो दी जाने लगी। फ्रैंकलैंड ने 3000 नमूनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि नदी की स्वत: शुद्धि की प्रक्रिया काम करती है, लेकिन वह प्रक्रिया बहुत ही धीमी है, इस प्रक्रिया में नदी में मौजूद बैक्टीरिया नष्ट नहीं हो पाते और इसका इस्तेमाल पीने के लिए नहीं किया जा सकता। साथ ही भिन्न-भिन्न मिट्टी में इस प्रक्रिया के परिणाम अलग-अलग दिखाई देते हैं। बहरहाल, दोनों कमीशनों की रिपोर्ट के आधार पर बनाया गया 'नदी प्रदूषण निवारक अधिनियम' यह स्पष्ट करता है कि नीतियों के स्तर पर सरकारी महकमे में हेनरी लेथेबी के विचार को अधिक प्राथमिकता दी गयी। ज़ाहिर है कि लेथेबी के विचार औद्योगिक गुट के हितों से मेल खाते थे और इस ऐक्ट में औद्योगिक समूहों के हस्तक्षेप की छाप भी दिखाई देती है। जो भी हो, जेनी विल्हेम की राय में नदी प्रदूषण को रोकने के लिए बनाया गया यह 'ब्रिटिश नैशनल लॉ' बहुत कमज़ोर और अप्रभावी रहा।

नदी प्रदूषण और भारत में आज़ादी के पहले के सरकारी प्रयास

उपरोक्त सभी बिन्दुओं को केंद्र में रखकर औपनिवेशिक भारत में बहसों, तर्कों और नीतियों को लेकर चर्चा शुरू हो गई और बड़े पैमाने पर औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा भारत में नदी प्रदूषण के संबंध में इनका ज़िक्र किया गया। इन्हीं सवालों और बहसों को केंद्र में रख कर भारत में पहली बार प्रयोग के तौर पर ब्रिटिश भारत की बंबई और कलकत्ता प्रेसिडेंसियों में 1860 के दशक में सीवरेज सिस्टम का निर्माण किया गया, जिसका मुख्य मक़सद युरोपीय क्वॉर्टरों की ज़रूरतों को पूरा करना था। साथ ही क्वॉर्टरों से निकलने वाले मल-मूत्र और दूसरे घरेलू कचरों को नदी में जाने से पहले संशोधित करना भी था। हालाँकि असलियत इससे उलट थी, क्योंकि बंबई में सीवरेज की निकासी सीधे समुद्र में होती थी, वहीं कलकत्ता में इसे बिद्याहारी नदी में सीधे छोड़ दिया जाता था जो आगे चलकर अपने सारे अपशिष्ट पदार्थों और घरेलू कचरे को ढोते हुए सीधे ही बंगाल की खाड़ी में जाकर गिरती थी। इस तरह की प्रक्रिया वर्षों पहले से इंग्लैंड के शहरों में प्रचलित थी और जिसे आगे चलकर प्रतिबंधित कर दिया गया। भारत में इस व्यवस्था को स्वच्छता और बीमारियों की रोकथाम के लिए हाथों-हाथ लिया गया और आने वाले कुछ वर्षों में यह व्यवस्था पोर्ट सिटी से निकलकर मैदानी क्षेत्रों में भी पहुँच गई। सर ऑकलैंड कॉल्विन (1887-92) लेफ़्टिनेंट-गवर्नर, उत्तर-पश्चिमी प्रांत, ने बंबई और कलकत्ता के शहरी स्वच्छता सुधार प्रयोग को महत्वाकांक्षी परियोजना के रूप में अपनाया, जिसकी मदद से शहरों, ख़ासकर कैंटोनमेंट क्षेत्र में पीने के पानी की आपूर्ति और सीवरेज प्रणाली की शुरुआत की जा सके। शहर का सारा कचरा बंबई

और कलकत्ता की तरह ही गंगा और उसकी सहायक नदियों में बहाया जाता था। क्योंकि ऑकलैंड कॉल्विन और अन्य अधिकारी गंगा तथा उसकी मुख्य सहायक नदियों को स्वाभाविक रूप से सीवेज सोख़्ता के रूप में देखते थे। ऑकलैंड की प्राथमिकता में जो प्रमुख शहर थे, वे सभी गंगा या इसकी मुख्य सहायक नदियों के तटों पर स्थित थे, जिसमें कानपुर, इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ और आगरा शामिल थे। इन जगहों पर इस परियोजना को लागू करना आसान काम था। साथ ही प्रशासनिक मतभेदों और वित्तीय कारणों की वजह से औपनिवेशिक अधिकारियों ने सबसे सस्ती उपलब्ध सीवरेज प्रौद्योगिकियों का चुनाव और समर्थन किया जो व्यापक रूप से प्रदूषण पैदा करने वाली प्रौद्योगिकियाँ थीं। इस प्रकार शहरों में व्यापक सीवर नेटवर्क बनाने की आवश्यकता को समाप्त कर दिया गया। जेनी विल्हेम का मानना है कि कई असहमतियों के बावजूद, गंगा और अन्य नदियों में सीवेज निपटान के मसले पर औपनिवेशिक नीतियों ने 1890 और 1910 के बीच एक निश्चित आकार लिया और साथ ही कुछ स्थायी विशेषताएँ भी हासिल कीं जिससे भविष्य में भारत में नदी प्रदूषण के विकास और इस समस्या को ठीक से समझने में आसानी हुई।

आज़ादी के बाद के सरकारी प्रयास

आज़ादी के शुरुआती दशकों की अवधि को जेनी विल्हेम 'पर्यावरणीय वॉटरशेड' के रूप में रेखांकित करती हैं।[13] हालाँकि इस तरह के विचार अपने आप में नए नहीं हैं और इनसे पहले भी गांधीवादी और दूसरे पर्यावरण हितैषी लोगों ने आज़ादी के शुरुआती दशकों को इसी तर्ज पर आकलित किया। आज कई दशकों के बाद भी कुछ लोग जेनी विल्हेम के बात से इतेफ़ाक़ रखते होंगे और कुछ का मत इनके विपरीत भी हो सकता है। स्वतंत्र भारत की इस अवधि का नेतृत्व जवाहरलाल नेहरू के द्वारा किया जा रहा था, जिसमें औद्योगीकरण के साथ-साथ बुनियादी ढाँचे और परियोजनाओं पर विशेष ज़ोर देना था। इसके तहत तेज़ी से आर्थिक विकास के एजेंडे को आगे बढ़ाया जा रहा था, जिससे देश में ग़रीबी ख़त्म की जा सके और ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को रोज़गार दिया जा सके। उस समय पर्यावरण का सवाल उतना ज़्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना अभी के समय में है। हालाँकि नेहरू के बाद इंदिरा और राजीव गाँधी के द्वारा पर्यावरण के सवालों को अपनी नीतियों में जगह दी गई और राष्ट्रीय स्तर पर कुछ क़ानून को बनाए गए जो जल, जंगल और ज़मीन के सवालों की मौजूदगी को बरक़रार रखे हुए हैं।[14] जेनी विल्हेम मानती हैं 20वीं शताब्दी के आख़िरी दशकों और 21वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में,

---

[13] जेनी विल्हेम (2016) : 4.

[14] जिसमें वन्य जीवन (संरक्षण) अधिनियम 1972, जल (प्रदूषण की रोकथाम और नियंत्रण) अधिनियम 1974, वन संरक्षण अधिनियम 1980, वायु (प्रदूषण की रोकथाम और नियंत्रण) अधिनयम 1981 और पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम 1986. इंदिरा गाँधी के द्वारा प्रकृति (पर्यावरण) के लगाव और उसके संरक्षण के किये गए कार्यों के लिए देखें, जयराम रमेश (2019).

राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर पर्यावरणीय संकट से संबंधित क्रियाकलापों ने भारत में राजनीतिक और सार्वजनिक क्षेत्र में जागरूकता का माहौल तैयार किया है जिसमें राजनीतिक बहसों, सम्मेलनों, प्रेस रिपोर्टों और प्रकाशन माध्यमों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। जहाँ एक तरफ़ भारत की जनता के बीच बढ़ती पर्यावरण जागरूकता और सामाजिक पहलों (उदाहरण के लिए – चिपको आंदोलन और अन्य) ने पर्यावरण संरक्षण के मुद्दे को देश के कोने-कोने तक पहुँचाया है, तो वहीं दूसरी तरफ़, पर्यावरण संबंधित क़ानूनों के कार्यान्वयन में सरकारी लचरता और बदइंतज़ामी ने पर्यावरण के सवालों को पीछे की तरफ़ धकेला है। जेनी ने अपनी पुस्तक में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों और संदर्भों को जगह दी है जिसमें सरकार की नदी स्वच्छता योजना, उसकी कथित संरचनात्मक कमज़ोरी और उन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक कारकों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है जो नदी से संबंधित नीतियों के कार्यान्वयन की सफलता को कम करते हैं।

निष्कर्ष

हालिया इतिहास लेखन ने न केवल नए सिरे से नदियों और उनकी ऐतिहासिक महत्ता को उजागर करने की कोशिश की है बल्कि शहरी पर्यावरण के समग्रतापूर्ण दृष्टि से बढ़ते जल-प्रदूषण और बिगड़ते पारिस्थितिकी तंत्र को विश्लेषित करने का कार्य भी किया है। हालाँकि औपनिवेशिक नीति और उससे पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों को किताबों की लंबी फ़ेहरिस्त के ज़रिये बहुत पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।[15] जेनी विल्हेम सरीखे इतिहासकारों के हालिया अध्ययन ने औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक सरकारों की नीतियों और प्रबंधन व्यवस्था को एक साथ समझने का प्रयत्न किया है, जो यह भी निर्देशित करता है कि भले ही भारत के नदी प्रदूषण की वर्तमान समस्या की जड़ें औपनिवेशिक शासन में खोजी जा सकती हैं, लेकिन आज की स्थिति को पूरी तरह से औपनिवेशिक राज्य पर मढ़ देना ग़लत होगा। स्वतंत्र भारत ने औपनिवेशिक काल के दौरान नदी प्रदूषण के लिए ज़िम्मेदार कई संरचनात्मक समस्याओं को आज भी क़ायम रखा है। इतना ही नहीं, पुरानी सीवरेज और सीवेज उपचार प्रणालियों का तेज़ी से क्षय हुआ है, जिससे नदी प्रदूषण लगातार बढ़ता गया है। बढ़ती जनसंख्या और शहरों का विस्तार नगरपालिका प्रशासन के कार्य को अधिक चुनौतीपूर्ण बनाता है क्योंकि आज के समय में पानी और उसकी बढ़ती माँग ने नगरपालिका और राज्य सरकारों पर अधिक बोझ डाला है और यह बोझ केवल

[15] इस सूची में शामिल हैं के. शिवरामाकृष्णन (1999), *मॉडर्न फ़ॉरेस्ट : स्टेटमेकिंग ऐंड एनवायरनमेंटल चेंज इन कोलोनियल ईस्टर्न इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली; महेश रंगराजन (2001), *इंडिया'ज़ वाइल्डलाइफ़ हिस्ट्री : ऐन इंट्रोडक्शन*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली; वसंत सबरवाल, महेश रंगराजन और आशीष कोठारी (2001), *पीपल, पार्कस ऐंड वाइल्डलाइफ़ : टुवर्ड्स कोएक्सजिस्टेंस*, ओरिएंट लॉन्गमैन, हैदराबाद ; अवधेंद्र शरण (2014), *इन द सिटी, आउट ऑफ़ प्लेस : यूसेंस, पॉल्यूशन, ऐंड इन दिल्ली*, 1850-2000; विनीता दामोदरन, एना विंटरबॉटम ऐंड ऐलन लेस्टर (सं) (2015), *द ईस्ट इंडिया कंपनी ऐंड द नेचुरल वर्ल्ड*, पालग्रेव मैकमिलन, लंदन और वेलायुथम सर्वनन (2020), *वाटर ऐंड द एनवायरनमेंटल हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इंडिया*, ब्लूम्सबरी, लंदन आदि.

प्रशासनिक और सर्विस डिलीवरी से ही जुड़ा नहीं हुआ बल्कि यह एक आर्थिक भार भी है, जिससे निकल पाना नगरपालिका के लिए आसान नहीं है। यहाँ यह समझना ज़रूरी है कि औपनिवेशिक शासन से लेकर वर्तमान समय तक में नगरपालिकाओं की कार्य पद्धति और उनके प्रशासनिक ढाँचे में किस तरह के बदलाव हुए हैं और यह बदलाव आज के समय की चुनौतियों का सामना करने में सक्षम हैं? और अगर नहीं है तो किन-किन क्षेत्रों में बदलाव करने की आवश्यकता है जिससे पीने के पानी और जल प्रदूषण की समस्या को न्यायोचित तरीक़े से हल किया जा सके? साथ ही पारंपरिक जल संरक्षण पद्धति को एक बार पुन: प्रयोग में लाने के लिए उन पद्धतियों और तरीक़ों पर विचार करना ज़रूरी है जो कभी समाज की समस्याओं को हल करने में कारगर साबित होते थे। अभी तक हम केवल पारंपरिक जल संरक्षण के बर्बाद होने के सवालों और उनके कारणों को ही उठाते आए हैं इससे आगे बढ़कर उसे पुन: किस तरह प्रयोग करने लायक़ बनाया जाए, इस पर विचार नहीं करते और न ही इस बात पर कि सरकार की नीतियों द्वारा प्रकृति और समाज के बीच जो गठजोड़ टूट चुका है उसको किस तरह पुन: स्थापित किया जाए। पर्यावरण का विषय लोगों और समुदायों के बीच से निकलकर राज्य की मशीनरी में केंद्रित हो चुका है, जिससे समाज चाहते हुए भी ख़ुद से उससे अलग पाता है। साथ ही समुदायों द्वारा प्रकृति को बचाने के लिए जो भी प्रयास किये जा रहे हैं उसे कैसे शोध और मुख्य धारा का हिस्सा बनाएँ यह भी एक जरूरी सवाल है जिसे अब तक हल करने की या उसके बारे में सोचने ज़हमत नहीं उठाई गयी।

संदर्भ

अवधेंद्र शरण (2011), फ्रॉम सोर्स टू सिंक : 'ऑफिसियल' ऐंड 'इम्प्रोवेड' वाटर इन दिल्ली, 1868-1956, *इंडियन इकोनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यु*, 48(3).

एम.डगलस (2002), *प्यूरिटी ऐंड डेंजर : ऐन एनालिसिस ऑफ़ कॉन्सेप्ट्स ऑफ़ पॉल्यूशन ऐंड टाबू*, रूटलेज़ क्लासिक एडिशन, रूटलेज़, लंदन ऐंड न्यू यॉर्क.

जयराम रमेश (2019), *इंदिरा गाँधी : प्रकृति में एक जीवन* (अनुवाद : अंचित पाण्डेय), ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

जेनी विल्हेम (2016), *एन्वायरनमेंट ऐंड पॉल्यूशन इन कोलोनियल इंडिया: सीवेज टेक्नोलॉजी ए लॉन्ग द सेक्रेड गैन्जेज*, रूटलेज़, लंदन ऐंड न्यू यॉर्क.

जोएल ए. टार (2001), अर्बन हिस्ट्री ऐंड एन्वायरनमेंटल हिस्ट्री इन द यूनाइटेड स्टेट्स, इन सी.बर्नहाईट (संपादित), *एन्वायरनमेंटल प्रोब्लेम्स इन यूरोपियन सिटीज़ ऑफ़ द नाइन्टीन्थ ऐंड ट्वेन्टीयथ सेंचुरी*.

प्रतीक चक्रबर्ती (2015), प्यूरीफ़ाईंग द रिवर : पॉल्यूशन ऐंड प्यूरिटी ऑफ़ वाटर इन कोलोनियल कलकत्ता, *स्टडीज इन हिस्ट्री*, 31(2) : 178-205.

माइकल मान (2007), *देल्हीज बेल्ली : ओन द मैनेजमेंट ऑफ़ वाटर*, सीवेज ऐंड एक्स्क्रेटा इन अ चेंजिंग अर्बन एनवायरनमेंट ड्यूरिंग द नाइन्टीन्थ सेंचुरी, स्टडीज इन हिस्ट्री, 23(1), 1-31.

________ (2015क), साउथ एशिया'ज मॉडर्न हिस्ट्री : थीमेटिक पर्सपेक्टिव, रूटलेज़, लंदन.

रॉबर्ट एवरेमे (2020), *हुगली : द ग्लोबल हिस्ट्री ऑफ़ अ रिवर*, हर्स्ट ऐंड कंपनी, लंदन.

वेलायुथम सरवनन (2020), *वाटर ऐंड द*